

# अपराधी प्रिय भारतीय न्याय-व्यवस्था का शुद्धिकरण कैसे हो



जब अधिक माइलेज देने वाली हीरोहौंडा मोटरसाइकिल भारत में आई थी तब विज्ञापन में कहा जाता था – फिल इट, शट इट एंड फॉरगेट इट। ऐसा ही कुछ भारतीय न्यायपालिका के विषय में कहा जाता है – फाइल एंड फॉरगेट यानी दावा दायर करो और भूल जाओ। यदि आप भारत में व्यापार करते हैं तो लगभग यह असंभव कि आपने कानूनी कार्यवाही की पीड़ा नहीं झेली हो। वास्तव में इस बात के पर्याप्त अवसर हैं कि आपको पहले ही वर्ष में बिक्री कर और उत्पाद कर आदि के मामलों में अपीलें करनी पड़ेंगी जोकि कालान्तर में आयकर विभाग और करार की अनुपालना के लिए मुकदमों तक कुछ ही वर्षों में रफ्तार पकड़ लेंगी। चूँकि भारत में व्यापारिक हित सार्वजनिक हित के साथ सामन्जस्यपूर्ण नहीं हैं इसलिए ज्यादातर मामले व्यापारी के विरुद्ध ही निर्णित होते हैं और सरकार के साथ मुकदमों को टालना असंभव बनाते हैं। इस कारण इसका दायरा बढ़ता जाता है और व्यापार संकुचित होता जाता है। बाबु लोग ऐसी शक्तियों का प्रयोग करना उचित समझते हैं जिनसे व्यापार को हानि पहुंचे लेकिन जब उसे माफ़ करने या राहत देने का प्रश्न उठे तो वे कानून की ऐसी संकुचित व्याख्या करेंगे की राहत नहीं दी जा सके और मजबूरन व्यापारी को उच्च अधिकारियों के पास जाना पड़े। कई बार कई धाराओं के प्रावधानों से वे सहमत तो होते हैं किंतु फिर भी वे मौन रहते हैं। करार सम्बंधित अधिकारों को भारत में लागू करना अत्यंत कठिन है और विश्व बैंक के अनुसार व्यापार में सहजता के सूचकांक में भारत का 189 देशों में से 186 वां गौरवमयी स्थान है! कारण अपने आप में स्वस्पष्ट है। मुकदमेबाजी में जाना या विपक्षी को धकेलना और जिम्मेदारी को स्थगित किये रखना सस्ता व सरल है बजाय कि बैंक से पैसा निकालें और आज ही चुका दें।

उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति अपना कर्जा आज ही चुकता है तो उसे बैंक से 12-14 प्रतिशत की दर से ब्याज पर लेना पड़ेगा जिस पर मासिक चक्रवर्ती ब्याज लगेगा। उसे ऋण लेने के लिए अन्य नाना प्रकार की परेशानियां – जैसे वार्षिक नवीनीकरण, स्टोक का हिसाब रखना, ऑडिट करवाना आदि भुगतनी पड़ेंगी। किन्तु यदि वह चुकाने से मुकर जाता है तो उसके लेनदार को न्यायालय में जाना पड़ेगा जिससे आपको आने वाले 10 वर्षों तक कोई परेशानी नहीं होगी – न वह कोई मांग तकरार कर सकेगा। और तब न्यायालय 6-8 प्रतिशत साधारण ब्याज के लिए डिक्ली देंगे जिसके इजराय के लिए उसे फिर दुबारा दावा करना पड़ेगा जिसमें वसूली होने की संभावना 50 प्रतिशत ही होगी अर्थात् फिर भी आपको 50 प्रतिशत ही देना पड़ेगा। एक चूककर्ता अपने जिम्मेदारी को फिर भी आगे खिसकाता जाएगा और आप

एक निरीह प्राणी की भाँति मूकदर्शक बने रहेंगे और गीली लकड़ी की भाँति सुलगतें रहेंगे।

यदि एक लाख रुपये के मुकदमे को 10 वर्ष तक खेंच लिया जाए तो बैंक को 12 प्रतिशत की दर से ब्याज सहित जो रुपये दो लाख तीस हजार रुपये चुकाने पड़ते उसकी बजाय न्यायालय के माध्यम से मात्र एक लाख बीस हजार में ही काम चल जाएगा! छोटे मोटे खर्चों को निकालकर भी वह आकर्षक एक लाख दस हजार रुपये बचा लेगा और लगभग 50 प्रतिशत लाभ कमा लेगा। बैंकों के बढ़ते डूबंत ऋणों में भी इस जटिल व्यवस्था का महत्वपूर्ण योगदान है। बैंकों ने अब एक लाख रुपये से कम बकाया के मुकदमे दायर करने लगभग बंद कर दिए हैं। इसलिए हमारी न्यायिक प्रणाली करार की अनुपालना को टालने और विपक्षी को न्यायालय की ओर धकेलने के लिए आकर्षक प्रोत्साहन देती है। न्यायालयों में ज्यादा मामले का अर्थ है, ज्यादा विलम्ब जिसका अर्थ है भुगतान के लिए और ज्यादा लंबा समय! इसलिए न्यायालयों में विलम्ब का ऐसे चतुर लोग स्वागत करते हैं और वे न्यायालयों के सबसे बड़े प्रशंसक भी हैं। यह स्थिति अब और बिगड़नेवाली है तथा अंततः हमारी सभ्यता के लिए बड़ी चुनौती है। सरल शब्दों में, यदि लोगों को समय पर न्याय नहीं मिलेगा तो वे न्याय के लिए अंडरवर्ल्ड के डॉन या बंदूक धारियों के पास जायेंगे जैसा कि भारतीय पान मसाला किंग अपने साझेदार के साथ विवाद निपटाने कुछ वर्ष पूर्व कराची गया था। किन्तु हमारे नीति निर्माताओं को इस बात की चिंता नहीं है कि जब तक विशेष न्यायालयों का गठन नहीं किया जाए तब तक इसका इलाज संभव नहीं है। समाधान तो तभी संभव है जब कोई समस्या को सही रूप में जड़ से समझे। क्या ये लोग समस्या को समझ पा रहे हैं? संभवतः वे यह भी समझ नहीं पा रहे हैं कि देश में अपराधियों को पुलिस या कानून का कोई भय नहीं है। हमारी वर्तमान व्यवस्था न तो एक दोषी को पर्याप्त दंड देती है और न ही एक पीड़ित को पर्याप्त क्षतिपूर्ति। यह बात राजधानी में भी लगातार होते बलात्कारों / महिलाओं पर हमलों से जग जाहिर है।

हमारे नीति निर्माताओं का विचार है कि एक सशक्त बलात्कारी के लिए 7 वर्ष की सजा पर्याप्त नहीं है इसलिए इसे 10 वर्ष कर दिया जाए। हमें सर्व प्रथम हमारी न्यायिक प्रणाली की समस्याओं को समझना होगा। एक न्यायार्थी के तौर पर यह अनुभव रहा है कि हमारी न्यायिक प्रणाली निम्न कारणों से निष्प्रभावी और काम से बोझिल है —

1. न्यायालयों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष झूठ बोलने के लिए कोई दंड नहीं दिया जाता है।
2. यह मुकदमेबाजी के अधिकार की रक्षा करता है बजाय न्याय के अधिकार की व कानून और डिक्री की अनुपालना को प्रोत्साहित नहीं करता।
3. ज्यादातर मामले इसलिए दायर किये जाते हैं ताकि विपक्षी परेशान, हैरान हो और वह व्यस्त रहे क्योंकि इनमें अनिश्चित समय लगता है।
4. सम्पत्ति सम्बंधित महत्वपूर्ण मामलों, जमानत के मामलों में विवेकाधिकार से अन्याय, विलम्ब और भ्रष्टाचार होता है। गायत्री प्रजापति का मामला ताज्जा उदाहरण है।
5. कानूनी अपेक्षाओं के स्थान पर कुछ अकर्मण्य परिपाटियाँ।
6. किसी भी राज्याधिकारी या न्यायिक अधिकारी के दायित्व का अभाव।

ऐसा प्रतीत होता है भारतीय कानून में दंड संहिता की धारा 193 मात्र एक ही प्रावधान है जो न्यायालय में झूठ के लिए दण्डित करने के विषय में है। जहां तक मुझे ज्ञात है इस प्रावधान का यदा कदा ही उपयोग होता है जबकि प्रत्येक न्यायालय में प्रत्येक मामले में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ऐसा होता है।

न्यायालय यह सब देखते हैं और उनके निर्णयों पर इन झूठों का ज्यादा असर नहीं पड़ता किन्तु एक कमजोर पक्षकार विलम्ब करने के अपने मंतव्य में सफल हो ही जाता है और न्यायालय का अमूल्य समय बर्बाद होता है। और जो इस उद्देश्य में आसानी से सफल होता है वह दूसरे लोगों को भी यही रास्ता अपनाने को प्रेरित करता है। इसका समाधान यही है कि जब भी एक पक्षकार का कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष झूठा आवेदन या साक्ष्य ध्यान में आये तो धारा 193 के प्रावधान को तुरंत निरपवाद रूप से अमल में लाया जाए और वकील पर भी आरोप लगाया जाए ।

जिस प्रकार सरकार चूककर्ता व स्वेच्छिक चूककर्ता में विभेद नहीं कर पाती ठीक उसी प्रकार हमारा कानूनी ढांचा मुकदमे का अधिकार व न्याय के अधिकार में भेद नहीं कर पाता है। न्यायिक दृष्टान्तों से वास्तव में मुकदमे के अधिकार की रक्षा के उद्देश्य से विधायिकीय कानून को उल्ट दिया जाता है। उदाहरण के लिए धारा 69 में प्रावधान है कि एक अपंजीकृत साझेदारी फर्म द्वारा किसी तीसरे पक्षकार के विरुद्ध कोई वाद नहीं लाया जा सकता किन्तु सामान्यतया न्यायिक दृष्टान्तों की आड़ में ऐसे वाद लाये जाते रहते हैं और वे अनिश्चित काल तक चलते रहते हैं। न्यायिक दृष्टान्तों में ऐसे दोष को बाद में दूर करने की छूट दी जाती रहती है जबकि कानून में इसके विपरीत प्रावधान हैं तो फिर बाद में पंजीयन के द्वारा ऐसे दोष के निवारण का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए। विशेष अनुतोष अधिनियम में सम्पत्ति सम्बंधित मामले तब भी दायर किये जाते हैं जबकि वादकर्ता के पास ऐसा कोई अधिकार भी नहीं होता है। ऐसा मात्र इसलिए किया जाता है ताकि वे सम्पत्ति को विवादित बनाए रख सकें और विरोधी को अपनी शर्तों को मानने के लिए मजबूर कर सकें। वादी को सिर्फ यह करना है कि वह करार का अपना भाग पूर्ण करने के लिए इच्छुक और सक्षम है, उसे यह साबित करने की आवश्यकता नहीं, मात्र इतना कहने से ही वह वाद को दसों वर्षों को तक खेंच सकता है ।

ठीक इसी प्रकार कानून चाहता कि चेक अनादरण एक अपराधिक मामला समझा जायेगा । बहुत से ऐसे मामले प्रकाश में है जिनमें अपील में सिर्फ न्यायालय उठने तक की सजाएं दी जाती हैं। जिससे यह सन्देश जाता है कि चेक अनादरण के लिए सजा से भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं है अपितु अन्वीक्षण न्यायालय के प्रत्येक आदेश के विरुद्ध अपील में जाएँ। विधायिका को चाहिए कि प्रत्येक अपराध के लिए अधिकतम के साथ साथ न्यूनतम सजा भी निर्धारित करे। इस प्रकार मुकदमेबाजी अपनी जिम्मेदारियों को टालने का प्रसन्नताकारक और सस्ता तरीका है। एक ऋणी मुकदमा हारने के बावजूद भी वास्तव में जीतता है। न्यायालय को कभी आक्रोश नहीं आता कि अमुक ऋणी ने उसके आदेश का पालन नहीं किया। निर्धारित समय में भुगतान के लिए कोई सख्त निर्देश नहीं होता कि यदि अपील में रोक नहीं लगाई गयी तो भुगतान करना पडेगा। यदि समय पर निर्णय दिए जाने लगे तो आधे से अधिक मुकदमे तो न्यायालयों में आएं ही नहीं ।

इसी प्रकार किरायेदारी के मुकदमे मकान मालिकों के लिए दिवा स्वप्न ही हैं। उदाहरण के लिए बलात्कार के आरोपी की जमानत मशीनी रूप में अस्वीकृत कर दी जाती है, बिना इस बात पर गौर किये कि यदि उसे जमानत दे दी जाए तो क्या आरोपी इस अपराध की पुनरावृत्ति कर सकता है , क्या वह भाग सकता है , क्या वह साक्ष्यों के साथ छेड़छाड़ कर सकता है आदि ? इसके अतिरिक्त कोई अन्य बात से जमानत पर असर नहीं पडना चाहिए । अपराध की गंभीरता असम्बद्ध है यदि आरोपी द्वारा आरोप की पुनरावृत्ति की संभावना नहीं हो। दंड की शुरुआत दंडादेश पारित किये जाने से प्रारम्भ होती

है और जमानत इनकारी को दंड के विकल्प रूप में नहीं माना किया जाना चाहिए किन्तु हमारी प्रणाली इस सुस्थापित सिद्धांत के विपरीत कार्य करती है कि एक अभियुक्त तब तक निर्दोष है जब तक कि वह संदेह से परे दोषी साबित नहीं हो जाए। जेल नहीं बल्कि जमानत का नारा भी कागजी ही लगता है। कुछ न्यायालय तो यहाँ तक आदेश करते हैं की मामले के गुणावगुण में जाए बिना अपराध की गंभीरता को देखते हुए जमानत अस्वीकार की जाती है। यदि यही कानून है तो फिर दंड संहिता में एक धारा ही जोड़ दी जाए कि बलात्कार, हत्या और अन्य विशेष संगीन अपराधों में कोई जमानत मंजूर नहीं की जायेगी जिससे समय और धन की बचत होगी। ताकि अभियुक्त जेल में लम्बे समय तक रहने और उसका परिवार उसके बिना रहने का मानसिक रूप से अभ्यस्त हो जाए। हम सिर्फ यही कहते हैं कि ऐसी परम्परा है। विवेकाधिकार, भ्रष्टाचार और दादागिरी को जन्म देता है। कुछ न्यायाधीश जमानत आवेदन अस्वीकार करने के लिए प्रसिद्ध होते हैं और वकील उनका दूसरी बेंच में स्थानान्तरण होने का इंतज़ार करते हैं ताकि वे जमानत आवेदन दायर कर सकें।

किसी भी कानूनी प्रणाली में ऐसा क्यों कि एक जमानत आवेदन न्यायाधीश क स्वीकार करे और एक इनकार ? जब दंड प्रक्रिया संहिता में जमानत लेने के लिए एक पुलिस अधिकारी ही सशक्त है तो फिर जमानत के लिए उच्चतम न्यायालय तक क्यों जाना पड़े ? जब समान कानून और परिस्थितियों में उच्चतम न्यायालय जमानत दे देता है तो फिर निचले न्यायालय और पुलिस अधिकारी इन्कार क्यों करते हैं ? आस्ट्रेलिया में जमानत के लिए 75 धाराओं वाला अलग कानून है और जमानत एक अभियुक्त का अधिकार है। किन्तु भारत में पुलिस और वकील मिलकर इस स्थिति को खुलम खुल्ला भुनाते हैं और माल कूटते हैं। मैं यह समझने में असमर्थ हूँ कि हमारे कानून में ऐसा प्रावधान क्यों है कि उसे जमानत दे दी जाए तो क्या आरोपी इस अपराध की पुनरावृत्ति कर सकता है, क्या वह भाग सकता है, क्या वह साक्ष्यों के साथ छेड़छाड़ कर सकता है आदि तक ही विचारण को सीमित क्यों नहीं रखा जाता ? यदि इन प्रश्नों का उत्तर ना में हो तो उसे जमानत क्यों नहीं दी जानी चाहिए ? इससे न्यायालयों का पर्याप्त समय बचेगा और जनता को अन्याय से पर्याप्त मुक्ति मिलेगी ।

यद्यपि एक व्यथित पक्षकार आदेश के विरुद्ध अपील दायर कर सकता है किन्तु क्या इससे एक न्यायिक अधिकारी को इस बात का लाइसेंस मिल जाता है कि वह बिना बुद्धि का प्रयोग किये और उचित, तर्कसंगत व सही निर्णय नहीं दे ? यह तब तक अनवरत जारी रहेगा जब तक कि उसे जिम्मेदार नहीं ठहराया जाये। यद्यपि कई बार कनिष्ठ अधिकारियों के विरुद्ध गंभीर निंदा प्रस्ताव पारित किये जाते हैं किन्तु फिर भी वे उस पद को धारण करते रहते हैं। उनकी सुस्थापित अक्षमता के बावजूद उन्हें लोगों को लगातार हानि पहुंचाते रहने के लिए खुला छोड़े रखा जाता है। प्रत्येक अपील के निस्तारण में यह निरपवाद रूप से निर्णित किया जाना चाहिए कि क्या विक्षेपित आदेश पारित करते समय अधिकारी ने अपने कर्तव्यों का उचित, तर्कसंगत और सही पालन किया है ? यदि नहीं तो फिर पदावन्नति अवश्य होनी चाहिए। यह नियम सभी अपीलों में, चाहे न्यायालय हों या विभागीय ट्रिब्यूनल सभी पर सामान रूप से लागू होना चाहिए। इससे कनिष्ठ अधिकारियों को विवश होकर उचित निर्णय देने पड़ेंगे और अपीलों की संख्या में भारी कमी आएगी। वे अधिकारीगण जो जनता से वसूले गए करों से अपना वेतन पाते हैं उनके इस विश्वास को गत 70 वर्षों से अनुचित संरक्षण दिया जा रहा है कि वे कुछ भी करें उनका कुछ भी बिगडने वाला नहीं है क्योंकि उनके ऊपर उनके माई बाप बैठे हैं जिनके लिए वे रातदिन कमा

रहे हैं।

यदि सिंगापुर के न्यायालय कुछ दिनों में निर्णय दे सकते हैं तो फिर ऐसा कोई कारण नजर नहीं आता कि भारत के न्यायालय ऐसा क्यों नहीं कर सकते? देश का आकार तो इस विषय में असंगत है क्योंकि सामान्यतया एक न्यायालय का मूल क्षेत्राधिकार तो लगभग एक तहसील तक सीमित है। वास्तव में देखा जाए तो हमारी विधायिका का न्याय देने का कभी कोई आशय रहा ही नहीं बल्कि उनका उद्देश्य तो अपनी मशीनरी का संरक्षण करना और सत्ता पर अपनी पकड़ को मजबूत बनाए रखना रहा है। जब निर्भया काण्ड के बाद जनता सड़कों पर उतरी तो एक महीने में कानून में संशोधन कर दिया जबकि उपभोक्ता संरक्षण में संशोधन का मुदा गत दस वर्षों से लंबित है। पशुओं पर निर्दयता निवारण के लिए चालीस वर्ष पहले कानून बना दिया गया किन्तु सस्ती लोकप्रियता और वोटों की छद्म राजनीति की संक्रामक बिमारी से ग्रस्त हमारी विधायिकाओं को मनुष्यों पर वैसी ही निर्दयता के निवारण के लिए कानून बनाने का आज तक समय नहीं मिल पाया है। लगभग प्रत्येक कानून में यह प्रावधान कर रखा है कि इस कानून के तहत सद्भाविक रूपसे की गयी कार्यवाही के लिए किसी भी अधिकारी के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं होगी। जबकि कार्यवाही सद्भाविक होने पर ऐसे संरक्षण के लिए अलग से प्रावधान की कोई आवश्यकता ही नहीं है। इसके स्थान पर प्रावधान यह होना चाहिए कि इस कानून के तहत कार्यरत प्रत्येक अधिकारी समय पर, उचित व सही निर्णय और कार्यवाही के लिए जवाबदेय होगा। इससे प्रशासन, पुलिस और न्यायिक विभागों में व्याप्त भ्रष्टाचार और अकर्मण्यता पर पर्याप्त अंकुश लगेगा और ऐसा करना पूर्णतया लोकतान्त्रिक मूल्यों के अनुकूल होगा।

एक न्यायाधीश ने कहा है कि जिसके पास पैसा नहीं हो उसके लिए न्याय की अपेक्षा करना ही गुनाह है। मद्रास उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश ने कहा है कि लोगों में न्यायालयों के प्रति बड़ा आक्रोश और अविश्वास है और वे लोग जिनके कोई विवाद हैं उनमें से मात्र 10 प्रतिशत ही न्यायालय आते हैं। सुप्रीम कोर्ट के जाने माने वकील प्रशांत भूषण का कहना है कि मात्र 1 प्रतिशत मामलों में ही न्याय होता है। गुजरात उच्च न्यायालय के सेवानिवृत्त न्यायाधीश बी जे सेठना ने भी कहा है कि उग्रवाद का पोषण देश में सिर्फ उग्रवादी ही नहीं करते अपितु न्यायपालिका भी करती है। जब अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय में सुनवाई के समय विडिओ रिकार्डिंग की जाती है तो फिर देश के न्यायालयों को इससे परहेज क्यों है? क्यों इसे अवमान माना जाता है? सभी न्यायालयों में विडिओ रिकार्डिंग व्यवस्था से न्यायाधीशों और वकीलों की मिलीभगत व दादागिरी दोनों पर अंकुश लग सकता है। न्यायालयों के लिये यह अनिवार्य होना चाहिए कि वे पक्षकारों द्वारा उठाये गए सभी प्रश्नों पर अपना निर्णय देंगे।

अक्सर देखा जाता है की आपराधिक मामलों में पुलिस वाले न तो स्वयं उपस्थित होते और न ही साक्ष्य समय पर प्रस्तुत करते हैं जिससे मामले लम्बे चलते हैं। डरपोक और लालची मजिस्ट्रेट भी अपने आप को असहाय पाते हैं और वे पुलिस अधिकारियों को अर्ध-शासकीय पत्र लिखकर अपना अपार स्नेह और कृपा दृष्टि जाहिर करते हैं। यद्यपि दंड प्रक्रिया संहिता में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है फिर भी यह मिलीभगत का एक अनूठा नमूना है। दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 91 के अंतर्गत ऐसे पुलिस अधिकारी को उपस्थित होने को आदिष्ट किया जाना चाहिए और यदि वह अनुपालना नहीं करे तो उसे धारा 349 के अंतर्गत कारावास में भेजा जाना चाहिए किन्तु 130 करोड़ की जनसंख्या वाले स्वतंत्र भारत के इतिहास में एक भी ऐसा उदाहरण मिलना दुर्लभ है।

दंड प्रक्रिया व सिविल प्रक्रिया संहिता दोनों में संक्षिप्त कार्यवाही के प्रावधान हैं और मामलों को शीघ्र निपटाने के उद्देश्य से इसमें शामिल मामलों की सूची को और बढ़ाया जा सकता। जहां कहीं भी कोई प्रक्रियागत कानून व्यवधानकारी लगते हों तो न केवल राज्य और केन्द्रीय विधायिका बल्कि सम्बंधित राज्य उच्च न्यायालय भी इनमें संशोधन के लिए सक्षम हैं। जहां तक गुणवत्ता का प्रश्न है मुझे तो न्यायिक अधिकारियों या विभागीय ट्रिब्यूनल के निर्णयों या पूर्ण अन्विक्षा और संक्षिप्त अन्विक्षा दोनों में ही गुणवत्ता गायब दिखाई देती है। मुश्किल से कोई 10 प्रतिशत मामले ऐसे हो सकते हैं जिनके निर्णयों में गुणवत्ता की झलक मिलती है शेष तो लगभग कोरी औपचरिकता मात्र होते हैं। अब समय आ गया है जब समस्त पक्षकारों को अपना दायित्व समझना चाहिए और इस व्यवस्था के शुद्धिकरण में अपना योगदान देना चाहिए जिससे सशक्त और समृद्ध भारत का सपना साकार हो सके।